Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. XV, Issue No. 1, April-2018, ISSN 2230-7540

शिवदान सिंह चौहान के आलोचना विवेचन में साहित्य का सौन्दर्य और सामाजिकता

Rajesh Kumar*

Research Scholar PhD (Hindi) South India Hindi Campaign, Madras

---------------------------------x---------------------------------

साहित्य की रचना संबंधी उद्देश्य को स्थूलतः तीन वर्गों में रखा जा सकता है– पहला आनंदवादी, दूसरा नैतिकतावादी और तीसरा यथार्थवादी या सौन्दर्यवादी। इस तरह कला के तीन उद्देश्य हुए– कला आनंदवादी दृष्टिकोण से सुख के लिए होती है, नैतिकतावादी दृष्टिकोण से सामाजिक सत्य एवं मानवीय मूल्यों की शिक्षा देने के लिए होती है और यथार्थवादी दृष्टिकोण से कला सौन्दर्य की अनुभूति के लिए होती है। अतः इसे हम वस्तुपक्ष, भावपक्ष एवं कलापक्ष भी कह सकते हैं। तीनों पक्षों पर विचार करने से ऐसा लगता है कि साहित्य की आलोचना करते समय इसमें से किसी एक का नहीं, वरन तीनों पक्षों का विवेचन आवश्यक है। शिवदान सिंह चौहान इस तथ्य को स्पष्ट करने से पहले यह प्रश्न उठाते हैं कि– ''साहित्य में वह क्या चीज है जो मूल्यवान है या किन–किन विशेष मूल्यों के लिए हमें साहित्य का अध्ययन करना चाहिए या साहित्य का मूल्यांकन किस आधार पर करना चाहिए। क्या आलोचक किसी कृति के रूपगत सौन्दर्य तक ही अपने विवेचन को सीमित रखें या उसकी वस्तु की भी जाँच करें।''[1] कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य के निर्णय की कसौटी क्या हो रूपगत सौन्दर्य या वस्तुगत सामाजिक तथा नैतिक मूल्य। ऐसे गंभीर एवं मूलभूत प्रश्नों को लेकर आलोचकों में प्राचीनकाल से ही मतभेद रहा है। शिवकुमार मिश्र ने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है– ''साहित्य के अंतर्गत वस्तु और रूप की सापेक्षित स्थिति का प्रश्न, यों तो प्रारंभ से ही साहित्य चिंतन के एक प्रमुख प्रश्न के रूप में चर्चित रहा है, परन्तु मार्क्सवादी साहित्य चिंतन के अंतर्गत उसे विशेष प्रमुखता प्राप्त हुई है।''[2] बात इन प्रश्नों में उलझने का नहीं है, इन प्रश्नों का उत्तर ढूंढना है। इसका उत्तर देने से पहले सौन्दर्यवादी और वस्तुवादी अर्थात् रूपवाद और वस्तुवाद को समझ लेना चाहिए।

रूप पक्ष को सौन्दर्यवादी, रूपवादी, कलावादी नामों से जाना जाता है। इसके अंतर्गत भाषा–शैली, अलंकार, बिम्ब, प्रतीक, छंद, लय, संगीत आदि आते हैं।

भाषा मनुष्य की अर्जित सम्पत्ति है, जो सामाजिक जीवन से प्राप्त होती है। भाषा के माध्यम से मनुष्य समाज का हर क्रिया–कलाप संचालित करता है। विचार, अनुभूति एवं संवेदना की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है। साहित्य विचारों, अनुभूतियों एवं संवेदना का पुंज होता है। अतः साहित्य में भाषा का महत्त्व अत्यधिक है। डॉ. बच्चन सिंह ने लिखा है– ''कला के निर्माण में कच्चे माल के रूप में पदार्थ की जरूरत होती है। मूर्ति के लिए पत्थर जरूरी है, तो चित्रकला के लिए रंग और रेखा। संगीत के लिए स्वर की आवश्यकता है तो साहित्य के लिए भाषा की। मूर्तिकार को अनगढ़ पत्थर उपलब्ध है। देशकाल, अभिरूचि और अपनी दक्षता और उद्देश्य के अनुसार माइकेल ऐंजिलों संगमरमर को एक ढंग से तराशता है तो रोडिन अपने ढंग से। इसी प्रकार कवि भाषा, लय, बिम्ब, प्रतीक, मिथक आदि को अपने से संयोजित करता है।''[3] अतः रूप–तत्व के अंतर्गत भाव एवं विचार की अभिव्यक्ति कौशल को रखा जाता है। कोई साहित्यकार अपनी अनुभूति एवं विचार को जितनी कौशल के साथ अभिव्यक्त करता है, वह साहित्य कालजयी होता है। अभिव्यक्ति का कौशल, उसकी शैली, शिल्प, कला को ही रूपगत सौन्दर्य के अंतर्गत रखा जाता है। मार्क्सवादी साहित्य चिंतकों ने अभिव्यक्ति के माध्यम से भी सामाजिक आधार स्वीकार किया है और उन्हें भी समाज का ही देन माना है। भाषा हो या बिम्ब, प्रतीक सबका आधार और सबका स्रोत यह सामाजिक जीवन ही है। रूपवादी आलोचक साहित्यकार को सामाजिक मूल्यों से विरत होकर तकनीक को ही कविता मान लेता है। अतः सौन्दर्यवादी आलोचक साहित्य को केवल मनोरंजन की वस्तु मानता है। ''सौन्दर्यवादी साहित्य को केवल आनंद या मनोरंजन की वस्तु समझते हैं। उनका कहना है कि रूपगत सौन्दर्य को ही साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी बनाना चाहिए, क्योंकि लेखक किसी विशेष सामाजिक मंतव्य को प्रकाशित करने के लिए नहीं बल्कि सुन्दर या चमत्कारपूर्ण उक्ति द्वारा अपनी व्यक्तिगत अनुभूति को अभिव्यक्ति देने के लिए लिखता है। उसकी दृष्टि में वस्तु गौण है और अभिव्यक्ति प्रधान।''[4]

शिवदान सिंह चौहान इस सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं। वे इसे साहित्य का एक पक्ष मानते हैं। सौन्दर्य की सत्ता मानव जीवन से हट कर नहीं है। शिव कुमार मिश्र ने स्पष्ट लिखा है– ''सौंदर्य अपने में कोई दिव्य वस्तु न होकर मानव जीवन के संदर्भ मेमं ही क्रमशः विकसित होने वाली एक ऐसी धारणा है जिसे बाह्य जगत के साथ अपने सम्पर्क के फलस्वरूप मनुष्य ने प्राप्त और विकसित किया।''[5]

डॉ. रामविलास शर्मा ने साहित्य में रूप या सौन्दर्य को उपयोगितावादी दृष्टिकोण से देखा है। वे सौन्दर्य की साहित्य में अपूर्व स्थिति स्थापित करते हैं, परन्तु उन भूखे, प्यासे, नंगे, व्यक्तियों के लिए साहित्य का सौन्दर्य की आवश्यकता नहीं है। उनके लिए भोजन, कपड़ा और मकान चाहिए, जो साहित्य उन्हें कभी नहीं दे सकता। उनको अपने खून–पसीने से इसे कमाना होगा। डॉ. रामविलास शर्मा का कथन है– ''जीवन की

www.ignited.in

परिस्थितियाँ मनुष्य की सौन्दर्यवृत्ति को कुंठित भी करती है। मार्क्सवाद पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि उसे उपयोगितावाद के अलावा सौन्दर्य से काम नहीं। लेकिन सौन्दर्य का विरोधी कौन है, वे जो करोड़ों आदमियों को गरीब और भुखमरी के हवाले करके उनकी सौन्दर्यवृत्तियाँ कुंठित कर देते हैं या वे जो उनके लिए भी इंसान की जिंदगी चाहते हैं, उनके अधिकारों के लिए लड़ते हैं, उस समाज की रचना करते हैं। जहाँ मनुष्य की सौन्दर्यवृत्ति कुंठित न होकर पल्लवित हो सके?''[6]

साहित्य के क्षेत्र में प्रयुक्त सौन्दर्यवाद कोई दार्शनिक मतवाद नहीं है, सामान्यतः यह उपयोगितावादी के विरोध में प्रस्तुत किया जाता है। शिवदान सिंह चौहान ने भारतीय काव्यशास्त्र के अलंकार, रीति और वक्रोक्ति सिद्धांतों को सौन्दर्यवादी या रीतिवादी के अंतर्गत रखा है– ''उपयोगितवादी धारा के अंतर्गत हम रस, ध्वनि औचित्य के काव्य सिद्धान्तों को रख सकते हैं और रीतिवादी धारा के अंतर्गत अलंकार, रीति और वक्रोक्ति के सिद्धान्त आते है।''[7] जो साहित्य नैतिक मूल्यों से विद्रोह करता है, वह साहित्य प्रत्यक्षतः जीवन से विद्रोह करता है। शिवदान सिंह चौहान ने साहित्य की उपयोगितावादी दृष्टिकोण पर अधिक बल दिया है, परन्तु रीतिवादी को एकदम नकारा नहीं है। मार्क्सवादी आलोचकों पर विशेषतः उपयोगितावाद का आरोप किया जाता है, लेकिन चौहान जी इसका समर्थन नहीं करते। पुरुषोत्तम अग्रवाल ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है– ''वे उपयोगितावादी और रीतिवादी में से उपयोगितावादी का पक्ष लेते हैं, लेकिन इस चेतावनी के साथ ही रचना का उपयोग मार्क्सवादी विचारों के प्रचार में नहीं, मानवीय मूल्यों के रेखांकन में सार्थक होता है। इसी कारण गैर प्रगतिशील रचनाकार का रचनाकर्म भी प्रगतिशील हो सकता है।''[8]

आधुनिक काल में छायावाद या रहस्यवाद कविता को एक सीमा तक सौन्दर्यवादी माना जा सकता है, वही प्रगतिवादी कविता को उपयोगितावादी या नैतिकतावादी। भारतेन्दु युग एवं द्विवेदी युग की कविता तो प्रमुखतः उपयोगितावादी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लोकमंगल को जिस प्रकार काव्य–मूल्यों के रूप में प्रस्तुत किया है, उसी प्रकार वे कविता को नैतिक मूल्यों के साथ जोड़ कर देखा है। उन्होंने लिखा है– ''मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और बरबार रहेंगे। काव्य कला के पुरी रमणियता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।''[9]

इस विवेचन विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि रूपवादियों या सौन्दर्यवादियों ने साहित्य के अनिवार्य गुण (नीति, उपदेश, सदाचार) आदि को नहीं माना। क्योंकि साहित्यकार या कलाकार का कर्म और उपदेशक का कर्म दो पूर्णतः भिन्न कर्म है। उपदेशक का कार्य है–अपनी बात को मनवाना, जबकि साहित्यकार का कार्य है–अभिव्यंजना करना। डॉ. बच्चन सिंह ने स्पष्ट लिखा है– ''कलारूप में वस्तु सम्प्रेषण न होकर अभिव्यक्त होती है। पाठक रूप के माध्यम से ही अभिव्यक्ति को पकड़ता है। रूप पर उसकी पकड़ जितनी मजबूत होगी, अभिव्यक्ति की पकड़ भी उतनी ही मजबूत होगी। यह रूप का करिश्मा है कि पाठक उसमें से अभीप्सित अर्थ निकालता है। कभी–कभी दो पाठक एक–दूसरे के विरोधी अर्थ निकाल लेते हैं। वस्तुतः वे विरोधी नहीं होते, बल्कि रूप की विभिन्न अर्थच्छायाएँ होती है।''[10]

वस्तुवादी से तात्पर्य है कथावस्तु से। साहित्य का निर्माण कोरी कल्पना नहीं है, उसमें तथ्य की अभिव्यक्ति भी होती है। विषयवस्तु के बिना अभिव्यक्ति संभव नहीं है। विषयवस्तु या कथ्य के साथ ही विचार, भाव, अनुभूति, चरित्र, नीति, सिद्धान्त आदि आ जाते हैं। अभी तक आलोचकों ने जिन मानदंडों पर विचार किया है, वे प्रायः साहित्य के अभिव्यक्ति पक्ष से संबंधित है, परन्तु इसके अतिरिक्त साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से जो नई सृष्टि करता है, नैतिकता का या सामाजिकता का जो ज्ञान प्रस्तुत करता है, उस पर विचार करना अनिवार्य है। अतः यह कहा जा सकता है कि साहित्य का विवेचन अभिव्यक्ति या रूपवादी (सौन्दर्यवाद) दृष्टिकोण के साथ–साथ उसकी सामाजिकता, मानव मूल्य एवं नैतिकता (वस्तुवादी) दृष्टिकोण का भी परीक्षा होनी चाहिए। जो कृति इन दोनों ही कसौटियों पर खरी उतरती है, वही साहित्य श्रेष्ठ साहित्य माना जाएगा। शिवदान सिंह चौहान ने इस बात को स्पष्ट लिखा है– ''यदि लेखक अपनी अनुभूति को सुन्दर और चमत्कारी ढंग से व्यक्त करने में सफल हो गया है तो सामाजिक नैतिक मानदंडों से वह अनुभूति चाहे खोली, अश्लील, प्रतिक्रियावादी, घोर निराशावादी या मानव द्रोही क्यों न हो, उसकी कृति में साधारण पाठक को सौन्दर्य और आनंद मिलेगा ही, क्योंकि अपने विशिष्ट मतवादी पूर्वाग्रहों के बावजूद उक्ति का चमत्कार उसके मन में सुखद संवेदनों की सरणि पैदा करके एक अंतरंग परितोष या आनंद देगा ही, बौद्धिक संतोष चाहे न दें। सौन्दर्य या उसकी अनुभूति से उत्पन्न होने वाला आनंद ऐसी आलौकिक वस्तु है, जिसकी मनुष्य के कर्म–जीवन से अलग एक अभ्यांतरिक सत्ता है। यहाँ किसी वस्तु की उपयोगिता से सौंदर्य का कोई संबंध नहीं है।''[11] अतः वस्तु के अभाव में साहित्य पूर्णतः अपने आप को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। इस बात को पुष्ट करते हुए शिवकुमार मिश्र ने स्पष्ट लिखा है– ''वस्तु के अभाव में उनके विचार से कला का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है, कोरा कलावाद या रूपवाद भले ही दिखायी पड़ जाए। यह कलावाद या रूपवाद तभी जन्म लेता है, जब रचनाकार उस सामाजिक जीवन से अपने को पूरी तरह काट लेता है, जो कला के बीज वस्तुओं का प्रधान स्रोत है। सामाजिक जीवन से कट जाने पर उसे न तो जीवंत संवेदनाएँ ही प्राप्त होती है और न अनुभव, भाव या विचार।''[12] जब तक मनुष्य के अतः स्थल में भाव या अनुभूति उत्पन्न नहीं होगी तब तक वह किसी भी विचार को अभिव्यक्ति नहीं दे सकता और भाव या अनुभूति तभी उत्पन्न होगी जब कोई वस्तु, व्यक्ति, घटना एवं उस प्रकार की स्थिति परिस्थिति को देख कर भावुक न हो जाए। इस तरह भावुक की स्थिति कर ले जाने का कार्य वस्तु या घटना का है। यह कार्य अभिव्यक्ति से पहले का है। रामविलास शर्मा ने 'सौन्दर्य की उपयोगिता' नामक लेख में लिखा है– ''जैसे मनुष्य से बाहर मनुष्यता की सत्ता नहीं है, वैसे ही सुन्दर वस्तुओं (या सुन्दर, भावों, विचारों) से बाहर सौन्दर्य की सत्ता नहीं है और तमाम सुन्दर वस्तुएँ, तमाम सुन्दर भाव, विचार मनुष्य के लिए हैं, उसकी सेवा करने के लिए, उसका हित साधने के लिए है। साहित्य का सौन्दर्य मनुष्य के उपयोग के लिए, मनुष्य साहित्य के लिए नहीं है।''[13]

जब साहित्य और समाज में नैतिक मूल्य विश्रृंखलित होने लगे तो आलोचक आत्मस्थ स्वयंकेन्द्रित हो गया। अपनी विचारधारा के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन करने लगा। मृत्युंजय सिंह ने लिखा है कि केवल विचारधारा या केवल साहित्यिकता ही आलोचना का मानदंड नहीं बन सकती। उन्होंने लिखा है–

www.ignited.in

''साहित्य केवल विचार नहीं होता, लेकिन यह बात तब पूरी होती है, जब इसके साथ यह जोड़ा जाए कि केवल शैली–सौन्दर्य या कलात्मकता भी साहित्य नहीं होता। बल्कि दोनों के रचनात्मक संतुलन से कोई रचना साहित्य या कलाकृति का दर्जा पाती है।''[14]

साहित्य नैतिक मूल्यों एवं सामाजिक सौन्दर्य का सामंजस्य है। साहित्य में या कलाकृति में वास्तविकता का वर्णन होता है और आलोचक सी वास्तविकता को मानदंड बनाकर साहित्य का मूल्यांकन करता है। शिवदान सिंह चौहान का मानना है– ''हर देश और काल का साहित्य मानव जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिंबित करता आया है, इसलिए सौन्दर्यवादी मानदंडों से साहित्य का सही मूल्यांकन संभव नहीं है। वास्तविकता ही उसके मूल्यांकन की कसौटी हो सकती है। मनुष्य के सामाजिक संबंध, विचार, शिल्प–ज्ञान और नैतिक मान्यताएँ आदि सभी कुछ वास्तविकता के अंतर्गत ही आते हैं।''[15] इस तथ्य को और भी स्पष्ट करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है– ''सौन्दर्य और उपयोगिता दो विरोधी वस्तुएँ मालूम होती हैं, लेकिन उनकी द्वंद्वात्मक एकता के बिना साहित्य रचना असंभव है। जो लोग उपयोगिता से इनकार करते हैं, वे वास्तव में सौन्दर्य के घटिया उपयोग को छिपाना चाहते हैं। उनके लिए सौन्दर्य इन्द्रियबोध तक सीमित है, अपने विलास और मनोरंजन पर वे शुद्ध आनंद का पर्दा डालते हैं। लेकिन सहृदय कवियों के लिए सुन्दर कर्म से बाहर सौन्दर्य की सत्ता है ही नहीं। उनका साहित्य–कर्म से ही प्रभावित होता है, मानव–कर्म को प्रभावित करने के लिए होता है।''[16] यहाँ साहित्य का मूल्यांकन के लिए उपयोगितावादी दृष्टिकोण अपनाया गया है। सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति दोनों साहित्य में उद्घाटित होता है। अतः आलोचक को साहित्य का मूल्यांकन करते समय दोनों दृष्टियों पर समान रूप से विवेचन–विश्लेषण करना चाहिए, ताकि साहित्य के मूल्य को और उसकी महानता एवं श्रेष्ठता को उद्घाटित किया जा सके। डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल ने मुक्तिबोध के संदर्भ में यह बात स्पष्ट किया है कि वही साहित्यकार सफल साहित्यकार है जो सौन्दर्यानुभूति के साथ जीवनानुभूति को सामंजस्य स्थापित कर मानव जीवनबोध की ओर संकेत करे। ''जो कलाकार जितना ही जागरूक होगा, उसका सौन्दर्य बोध समाज की गतिविधि से उतना ही जटिल होता जाएगा। उसमें जटिल भाव–बोध तथा वैयक्तिक संवेदनाएँ मिलती जाती है। मानवीय ऐन्द्रिकताओं की समृद्धि से बौद्धिक बोध तथा जीवन बोध में क्रमशः मानवीय बोधों का विकास हो जाता है। इस ढंग से हमारे स्थायीभाव भी मानवीय बोधों को ग्रहण करके मानवीकृत हो जाते हैं। मानव का सौन्दर्य बोध इसी प्रक्रिया से विकसित हुआ है। अतः सौन्दर्यानुभूति को जीवनानुभूति का पर्याय मानना चाहिए।''[17] सौन्दर्यवादी या कलावादी आलोचक सौन्दर्यानुभूति तथा जीवनानुभूति दोनों को एकदम अलग–अलग रूप में देखते हैं। इस धारणा को शिवदान सिंह चौहान ने सीधा प्रतिवाद किया है और इन्होंने दोनों दृष्टियों को एकांगी माना है। उन्होंने लिखा है– ''मेरा अपना विचार है कि ये दोनों दृष्टियाँ एकांगी है, यद्यपि अपनी–अपनी जगह पर दोनों सही है। यदि आप रूपवादियों के साहित्य दर्शन को सही मान ले तो निश्चय ही साहित्य में वस्तु का कोई महत्त्व नहीं रह जाता और यदि उपयोगितावादियों के दृष्टिकोण से देखें तो अभिव्यंजना गौण हो जाती है। दोनों में आंशिक सत्य होने के कारण विभिन्न युगों में, विभिन्न सामयिक आग्रहों को लेकर यह दोनों विचारधाराएँ नए–नए नामों से सामने आती रही हैं।''[18] दूसरी जगह इस बात का और खुलासा करते हुए चौहान जी ने यह लिखा है कि आधुनिक साहित्य और समाज में इतनी विश्रृंखलता आ गयी है कि उसे प्राचीन व्याख्याकारों की मान्यता से दूर जाकर देखना आवश्यक है। उन्होंने लिखा है– ''आधुनिक काव्य में आधुनिक समाज की विशेषताओं के जो अनुभव गृहित हुए हैं, प्राचीन व्याख्याकार उनकी कल्पना भी नहीं पर सकते थे, इस कारण उनकी व्याख्याएँ आंशिक सत्य रखते हुए भी अधूरी है और पूर्वकालीन युगों की ही तरह आज हमें उसकी नई व्याख्या की आवश्यकता है जो हमें कविता, उसकी सौन्दर्यगत विशेषताओं, उसके संविधायक पक्ष, उसकी विकास धारा की दिशाओं और उसके उद्‌गम के मूल स्रोतों का अन्वेषण कर हमें उसे समझने में सहायता दे।''[19]

यहाँ चौहान जी ने कई सूक्ष्म बिन्दुओं पर प्रकाश डाला है। कविता में व्यक्त सौन्दर्यगत विशेषताओं के साथ, कविता के शास्त्रीय विवेचन अर्थात् नियम नीति के साथ साहित्य के उद्‌गम के मूल स्रोतों अर्थात् वस्तुगत अध्ययन की ओर संकेत है। समस्या यह है कि वस्तुगत एवं रूपगत विवेचन दोनों आंशिक रूप से सही हैं, इसलिए उनमें से किसी एक को व्यावहारिक प्रयोग में लाने से अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। ''साहित्यालोचना की ये दोनों दृष्टियाँ एकांगी हैं और इनमें से किसी एक को ही अपनाने से जो व्यवहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती है, उनका समाधान आलोचक अक्सर नहीं कर पाते। साहित्यालोचन के क्षेत्र में इस कारण सदा इतनी भयंकर अराजकता रही है।''[20] इस अराजकता के समाधान के लिए चौहान साहब ने टी.एस. इलिएट का सहारा लिया है। जिस प्रकार इलिएट ने साहित्य की साहित्यिकता जाँचने के लिए रूपगत सौन्दर्य का सहारा लिया तथा उसकी महानता को जांचने के लिए वस्तुगत सौन्दर्य को लिया। ठीक उसी प्रकार चौहान जी ने भी यह सुझाव दिया– ''किसी कृति की साहित्यिकता जाँचने के लिए तो रूपगत सौन्दर्य के प्रतिमानों का प्रयोग करना चाहिए, लेकिन उसकी महानता का निर्णय करने के लिए साहित्येतर प्रतिमानों का प्रयोग जरूरी है।''[21]

कला में रूप एवं वस्तु दोनों का सामंजस्य है। एक दूसरे से ऐसे गुम्फित है कि दोनों को अलग–अलग करके उसकी महत्ता को नहीं देखा जा सकता है। समग्रता में ही इसकी महत्ता एवं साहित्यिकता बची रहती है। जिस प्रकार मनुष्य की महत्ता उसके शरीर और आत्मा में निहित है, उसी प्रकार साहित्य में वस्तु और रूप दोनों अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। आलोचक बाह्य और आंतरिक दोनों पक्षों की जाँच करता है और उन्हीं के आधार पर साहित्य का विवेचन–विश्लेषण करता है; किसी वस्तु, भाव या विचार को उद्‌घाटित कर दृष्टिगोचर बनाने के मूल व्यापार के साथ–साथ सौन्दर्ययोजना का कार्य भी सिद्ध करता है। आलोचक की आलोचना व्यपार इस प्रकार देखे जा सकते हैं–साहित्य में अभिव्यक्त अर्थ को पूर्णतया स्पष्ट करना, भाव को संप्रेषणियता और उत्तेजित बनाना, वस्तु या घटना को प्रत्यक्ष कराना तथा रूप, सौन्दर्य या गुण को हृदयंगम बनाना। अर्थात् आलोचक को केवल वस्तु, भाव, विचार के विवेचन तक ही सीमित नहीं करना चाहिए, बल्कि रूप, सौन्दर्य के साथ कृति

www.ignited.in

के समग्र रूप को देखना चाहिए। शिवदान सिंह चौहान किसी भी कृति को समग्र रूप में देखना चाहते हैं। उन्होंने लिखा है– '' किसी साहित्यिक रचना का मूल्यांकन करते समय केवल रचना कौशल, शिल्प या उक्ति–चमत्कार तक ही अपनी दृष्टि सीमित नहीं कर लेनी चाहिए और न केवल वस्तु विवेचन तक ही, बल्कि उस कृति को समग्र रूप में देखना चाहिए।''[22] समग्र रूप में देखने का तात्पर्य है–वस्तु और सौन्दर्य के साथ सामाजिकता, नैतिकता और उपयोगिता की ओर ध्यान दिया जाए, तो साहित्य एवं साहित्यकार के लिए उचित है।

संदर्भ सूची :

शिवदान सिंह चौहान (2002). आलोचना के मान, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 110085, प्रथम संस्करण–1958, पुनर्मुद्रण–2002, पृ. 52

डॉ. शिवकुमार मिश्र (2010). मार्क्सवादी साहित्य चिंतन इतिहास तथा सिद्धान्त, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, संस्करण–2010, पृ. 344

डॉ. बच्चन सिंह (2007). आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, संस्करण–2007, पृ. 93

शिवदान सिंह चौहान (2002). आलोचना के मान, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 110085, प्रथम संस्करण–1958, पुनर्मुद्रण–2002, पृ. 52

डॉ. शिवकुमार मिश्र (2010). मार्क्सवादी साहित्य चिंतन इतिहास तथा सिद्धान्त, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, संस्करण–2010, पृ. 354

रामविलास शर्मा (2008). मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, तृतीय संस्करण–2008, पृ. 259

शिवदान सिंह चौहान (2001). आलोचना के सिद्धान्त, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 110085, प्रथम संस्करण–1958, पुनर्मुद्रण–2001, पृ. 35

पुरुषोत्तम अग्रवाल (2007). भारतीय साहित्य के निर्माता शिवदान सिंह चौहान, साहित्य अकादमी नई दिल्ली–110001, प्रथम संस्करण–2007, पृ. 115

सं. सुधाकर पांडेय (2000). आचार्य शुक्ल : प्रतिनिधि निबंध, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, आवृत्ति 2000, पृ. 93

डॉ. बच्चन सिंह (2007). आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, संस्करण–2007, पृ. 93

शिवदान सिंह चौहान (2002). आलोचना के मान, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 110085, प्रथम संस्करण–1958, पुनर्मुद्रण–2002, पृ. 53

डॉ. शिवकुमार मिश्र (2010). मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन इतिहास तथा सिद्धान्त, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, संस्करण–2010, पृ. 345

रामविलास शर्मा (2008). मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, तृतीय संस्करण–2008, पृ. 291

मृत्युंजय सिंह (2009). प्रगतिशील हिन्दी आलोचना विवाद और विमर्श, शिल्पायन प्रकाशन दिल्ली–110032, संस्करण–2009, पृ. 36

शिवदान सिंह चौहान (2002). आलोचना के मान, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 110085, प्रथम संस्करण–1958, पुनर्मुद्रण–2002, पृ. 53

रामविलास शर्मा (2008). मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, तृतीय संस्करण–2008, पृ. 295

डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल (2002). हिन्दी आलोचना के नए वैचारिक सरोकार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, प्रथम संस्करण–2002, द्वितीय संस्करण–2007, पृ. 211

शिवदान सिंह चौहान (1958). आलोचना के मान, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 110085, प्रथम संस्करण–1958, पुनर्मुद्रण–2002, पृ. 54

शिवदान सिंह चौहान (1999). परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, प्रथम संस्करण–1999, पृ. 121

शिवदान सिंह चौहान (1958). आलोचना के मान, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 110085, प्रथम संस्करण–1958, पुनर्मुद्रण–2002, पृ. 55

वही, पृ. 55

वही, पृ. 57

Corresponding Author

Rajesh Kumar*

Research Scholar PhD (Hindi) South India Hindi Campaign, Madras